

पाठ्यपुस्तकों पर चली इस बहस ने विद्यार्थी और सीखने की एक खास धारणा प्रस्तुत की है। यह माना गया कि विद्यार्थी सिर्फ पाठ्यपुस्तकों से ही सीखता है। यह लेख बताता है कि विद्यार्थी अपने परिवेश से भी बहुत कुछ सीखता है। विद्यार्थी के सीखने के लिए पाठ्यपुस्तक एकमात्र संसाधन नहीं है। लेख कहता है कि वर्तमान पाठ्यपुस्तकें एनसीएफ 2005 के लक्ष्यों के अनुरूप बनी हैं और इस लिहाज से यह एक बेहतरीन प्रयास है।

तर्कहीनता के खतरे

मुकुल प्रियदर्शिनी

ने हरू-अंबेडकर कार्टून पर संसद में उठा विवाद भले ही क्षणभंगुर था, पर इस विवाद की आंधी का शिकार अंततः शिक्षा हुई है। पर इस दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति का एक दूसरा पहलू यह है कि इस विवाद ने शिक्षा व शिक्षाशास्त्र पर विमर्श के लिए एक संदर्भ भी रच दिया है। इस बात की कल्पना शायद ही किसी ने की होगी कि एक-दो दिन के संसदीय उन्माद पर सरकार अफरा-तफरी में ऐसे कदम उठा लेगी जिसके शिक्षा के लिए दूरगामी परिणाम हो सकते हैं। यों तो हम औपनिवेशिक शिक्षा की आलोचना करते नहीं थकते कि उसका उद्देश्य सरकारी बाबुओं की जमात तैयार करना था पर ऐसी शिक्षा की खामियों को जानते हुए भी उस विरासत को आजादी के साठ साल बाद भी ढोए चले जाने का औचित्य समझ में नहीं आता। सच्चाई तो यह है कि हम भी ऐसी ही शिक्षा पद्धति के साथ सहज महसूस करते हैं जो आलोचनात्मक दृष्टि से विहीन होकर, तटस्थ ढंग से छात्र-छात्राओं को जानकारियां दे। जब शिक्षा सशक्तिकरण का माध्यम बन जाती है, तब वह छात्र-छात्राओं के लिए कक्षा में प्रश्न पूछने, चीजों का विश्लेषण करने, मौजूदा विचारों को चुनौती देने, मुद्दों, परिस्थितियों और पाठों पर स्वतंत्र रूप से अपनी राय बनाने की संभावनाएं रचती है, तब वे लोग

असहज महसूस करने लगते हैं जिनके पास वर्गगत, जातिगत और जेंडरगत सत्ता होती है। इसके साथ-साथ कुछ लोग शिक्षा के प्रसंग को राजनैतिक हित साधने का जरिया भी बना लेते हैं। मौजूदा विवाद के संदर्भ में भी ऐसा हुआ है।

नाजुक छवि किसकी?

सरसरी तौर पर देखें तो मौजूदा कार्टून विवाद दो चीजों की उपज लगता है- अंबेडकर जैसी ऊंची शख्सियत की दलित

परिचय

भाषा विज्ञान में पी.एच.डी., दिल्ली विश्वविद्यालय के मिरांडा हाउस में बी.एल. एड. में सहायक प्रोफेसर पद पर कार्यरत, एनसीईआरटी के 'भारतीय भाषाओं के फोकस ग्रुप' एवं राष्ट्रीय पाठ्यचर्या 2005 के अनुरूप विकसित भाषा के पाठ्यक्रम एवं पाठ्यपुस्तक निर्माण समिति की सदस्या रही हैं।

अस्मिता का संकीर्ण नजरिया जिसका महत्त्व इतिहास और राजनीति में निर्विवाद है। दूसरा, कार्टून जैसी व्यंग्यात्मक अभिव्यक्ति में रेखांकित अपनी छवि को राजनेताओं द्वारा नकारा जाना। वस्तुतः दलित समुदाय की ओर से भावनाएं आहत होने की बात को लेकर कोई सामूहिक विरोध प्रकट नहीं हुआ था। कार्टून पर आपत्ति जताई थी तो चंद नेताओं और विद्वानों ने। शुरू में यह आपत्ति नेहरू-अंबेडकर कार्टून पर थी पर बाद में अन्य कार्टून और राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् (एनसीईआरटी) की अन्य किताबें भी संसद में हुए हंगामे का शिकार हुईं। हमारे सांसदों को कि ऐसे कार्टून उनकी नाजुक छवि को छिन्न-भिन्न कर देंगे। उनका मानना है कि 16-17 वर्ष के बच्चों के कच्चे मानस में राजनेताओं की बुरी छवि बस जाएगी और लोकतंत्र व राजनेताओं में उनकी आस्था टूट जाएगी।

हम सब जानते हैं कि हाल के कुछ वर्षों में युवा वर्ग (विशेष रूप से शहरी मध्यम वर्ग) चुनावी प्रक्रिया, लोकतंत्र और सरकारी व्यवस्था के प्रति उदासीन होता चला गया है। यह बात सरकार की चिंता का विषय भी रही है। यही कारण है कि पिछले कुछ चुनावों के दौरान प्रिंट और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया पर सघन प्रचार के जरिए युवा वर्ग को मतदान करने के लिए आकर्षित करने की कोशिश की जाती रही है। कार्टूनों की वजह से जिस छवि के बनाने का अंदेशा हमारे जन प्रतिनिधियों को है, वह छवि तो समाज में पहले से स्थापित है। कार्टूनों वाली पाठ्यपुस्तकों को पढ़ने से पहले भी सरकारी व्यवस्था में युवाओं की आस्था क्षीण हो गई थी।

सवाल यह उठता है कि युवाओं के मन में राजनीति और राजनेताओं की इतनी नकारात्मक छवि क्यों बनी हुई है? यह बहस का एक अलग मुद्दा हो सकता है जो कई भूमंडलीय आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक पहलुओं से जुड़ा है। पर इस नकारात्मक छवि के निर्माण में राजनेता अपनी भूमिका से इंकार नहीं कर सकते।

कार्टून विवाद जैसे और भी कई संदर्भ अतीत में हुए हैं जब बच्चों के कच्चे मानस में विष भरे जाने के तर्क दिए गए हैं। ऐसे तर्क यह दर्शाते हैं कि हम बच्चों की अपार क्षमताओं से कितने अनभिज्ञ हैं। किसी भी पृष्ठभूमि के बच्चे में यह क्षमता होती है कि वह बिना किसी पाठ्यपुस्तक के सहारे भी अपने परिवेश की स्थितियों और लोगों के बारे में स्वतंत्र राय बना सके। वह राय भले ही हमें दोषपूर्ण लगे पर अक्सर उस राय का अपना तर्क होता है। बच्चे सब कुछ स्कूल की चारदीवारी के भीतर ही नहीं सीखते; वे अपने परिवेश और जीवन के अनुभवों से भी बहुत कुछ सीखते हैं और दुनिया के बारे में अपनी समझ विकसित करते हैं।

शिक्षाशास्त्र का मसला

दलित अस्मिता के प्रकट मुद्दे के अलावा सांसदों के रोष का मुख्य कारण कार्टूनों में अभिव्यक्त वे बातें थीं जो राजनैतिक वर्ग के लिए खुशगवार नहीं थीं। कारण जो भी रहे हों, 14 मई, 2012 को लोकसभा में हुई बहस का स्तर शोचनीय था। बिना किसी शिक्षाशास्त्रीय या शैक्षिक तर्क के एक शैक्षिक संसाधन को सिरे से खारिज किया जा रहा था। शायद अपने जन प्रतिनिधियों से यह अपेक्षा करना थोड़ी ज्यादाती थी कि वे इतने कम समय में पाठ्यपुस्तकों को ध्यान से देखकर सुविचारित बहस करते। पर संसद में उठे कोहराम के एक हफ्ते बाद भी यदि कुछ वरिष्ठ मंत्री प्रिंट और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया पर इंटरव्यू में पहले जैसी ही अनभिज्ञता और सतही सोच दर्शाते हैं, तो यह किस बात का परिचायक है?

यदि शिक्षाशास्त्र की दृष्टि से इन किताबों को देखा जाए तो हम पाएंगे कि तथ्यों और जानकारी को नीरस तरीके से पेश करने की बजाय ये किताबें विद्यार्थियों के लिए जिन्दगी के वास्तविक संदर्भों में सघन अवलोकन के अवसर जुटाती हैं ताकि वे राजनीति और शासन से जुड़ी अवधारणाओं की समझ खुद बना पाएं। इन नई किताबों की पूरी श्रृंखला में कुछ परिप्रेक्ष्य अंतर्निहित हैं जो पाठों की अंतर्वस्तु, प्रस्तुति और प्रश्नों में झलकता है। यह परिप्रेक्ष्य राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005 के आधारभूत बिन्दुओं में से हैं :

- बच्चे सीखने और ज्ञान-अर्जन की प्रक्रिया में सक्रिय भूमिका निभाते हैं।
- हम बच्चों की क्षमताओं पर भरोसा करते हुए उनके लिए ऐसे मौके जुटाएं कि वे अवलोकन (चीजों को गहराई से देखने), सोचने, मनन करने, अपनी स्वतंत्र राय बनाने और उसे बिना किसी हिचक के रचनात्मक ढंग से अभिव्यक्त करने की बौद्धिक क्षमता विकसित कर सकें। सीखने-सिखाने की यह प्रक्रिया बेहतर और ज्यादा लोकतांत्रिक होगी।
- सीखने के अनुभवों को अधिक समृद्ध बनाने के लिए शिक्षा एक अदद पाठ्यपुस्तक पर केन्द्रित नहीं होनी चाहिए। साथ ही साथ जिन बिन्दुओं पर पाठ्यपुस्तक में विचार-विमर्श हो, वह बच्चों की रोजमर्रा की जिन्दगी, स्कूल और उसके बाहर के अनुभवों से जुड़ी हो।
- इन उद्देश्यों को पाने के लिए यह जरूरी है कि कक्षा में तरह-तरह की सामग्री का इस्तेमाल किया जाए; पाठ्यपुस्तक इकलौती परम-पावन संसाधन नहीं है। अखबारों की कतरने, पत्रिकाएं, कविता आदि सृजनात्मक साहित्य, फिल्में, इश्तेहार पोस्टर, इंटरनेट, कार्टून आदि सीखने-सिखाने के बेहतरीन जरिए हो सकते हैं।

शैक्षिक औजार के रूप में इन सब चीजों के महत्त्व को समझा जाना बहुत जरूरी है। ऊपर उल्लिखित शैक्षिक दृष्टिकोण सिर्फ राजनीति शास्त्र की पुस्तकों में ही नहीं झलकता बल्कि इतिहास, परिवेश ज्ञान, हिंदी, गणित आदि जैसी एनसीईआरटी की अन्य नई किताबों में भी इस दृष्टिकोण की अनुगूँज मिलती है। ये सब पाठ्यपुस्तकें 2005 की राष्ट्रीय पाठ्यचर्या को अमली जामा पहनाने का सुंदर उदाहरण हैं। पाठ्यक्रम की अंतर्वस्तु, किताबों में उसकी प्रस्तुति और उससे जुड़े प्रश्न ऐसी आलोचनात्मक और लोकतांत्रिक पाठ्यचर्या का प्रतिनिधित्व करते हैं जिनकी पैरवी राष्ट्रीय पाठ्यचर्या (2005) करती है।

शैक्षिक विमर्श में बच्चे और शिक्षक

कोई भी प्रगतिशील शैक्षिक विमर्श बच्चों और शिक्षकों के प्रति संवेदनशील होता है। वह बच्चों की पृष्ठभूमि, उनकी क्षमताओं, सीखने की उनकी अपनी गति के प्रति सकारात्मक रुख रखता है। हिंदी की पाठ्यपुस्तकों में इसकी झलक कई रूपों में मिलती है; ये किताबें राजनैतिक दृष्टि से गढ़ी गई भाषा व बोली में ऊंच-नीच के अंतर को तोड़ती हैं। पाठों के चयन और भाषा के प्रश्नों के माध्यम से ये किताबें साबित करती हैं कि बोलियों का भी अपना व्याकरण होता है और वे भी नियमबद्ध होती हैं। ये किताबें बच्चों के घर की भाषा और उनकी सामाजिक, भाषाई व सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को स्वीकार करती हैं और सम्मान देती हैं। इसके जरिए किताबें इस बात की वकालत भी करती हैं कि सीखने की प्रक्रिया में बच्चों की केन्द्रीय स्थान और भूमिका होती है।

शिक्षा व्यवस्था का दूसरा बड़ा स्तम्भ शिक्षक होते हैं जिन्हें उचित सम्मान और स्थान दिया जाना चाहिए। जब तक शिक्षकों का शैक्षिक सशक्तिकरण नहीं होता तब तक शिक्षा में रचनात्मक बदलाव महज एक कल्पना है। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या 2005 तैयार किए जाने के दौरान एक राष्ट्रीय फोकस समूह विशेष रूप से शिक्षकों की शिक्षा से संबद्ध था। तत्पश्चात् पाठ्यचर्या पर आधारित पाठ्यक्रम और उसके आधार पर बनी पुस्तकों में इस बात की गुंजाइश थी कि शिक्षक पाठ्यपुस्तकों के दायरे से बाहर जाकर शिक्षण के नए और सृजनशील तरीके अपनाएं। इस प्रक्रिया के दौरान शिक्षक सभी दस्तावेजों को तैयार करने के लिए गठित समितियों का अभिन्न अंग थे। प्रत्येक समिति में शिक्षकों के अलावा एनसीईआरटी के प्रतिनिधि, शिक्षा से जुड़े गैर-सरकारी संगठनों के सदस्य और विश्वविद्यालयों से जुड़े विभिन्न विषयों के विशेषज्ञ व शिक्षाविद् शामिल थे। ये सारी प्रक्रिया काफी लोकतांत्रिक थी जिसमें सिद्धांत और व्यवहार की जमीन से जुड़े, विभिन्न परिप्रेक्ष्यों वाले विविध स्वर एक साथ जुड़े और तमाम पुस्तकें, पाठ्यचर्या, शिक्षक निर्देशिकाएं आदि दस्तावेज तैयार किए।

पाठ्यपुस्तकें निगरानी समिति द्वारा देखी और अनुमोदित की गईं। इस प्रकार ये किताबें चार अलग-अलग किस्म के संस्थानों और संगठनों के लोगों का सामूहिक प्रयास थीं। वे 'राज्य द्वारा निश्चित किए गए' विद्वान लेखकों ने नहीं लिखीं जैसा कि एक लब्धप्रतिष्ठ विद्वान ने अंग्रेजी के एक राष्ट्रीय समाचार पत्र में छपे एक लेख में कहा है।

लेकिन हर स्तर पर शिक्षकों की भागीदारी के बावजूद बड़े पैमाने पर शिक्षकों को नवाचार से जोड़ना जरूरी है। इसके लिए नौकरी से पहले के अध्यापक-शिक्षा कार्यक्रम और नौकरी के दौरान समय-समय पर चलने वाले प्रशिक्षण कार्यक्रम गुणवत्ता, परिप्रेक्ष्य, श्रमसाध्यता के लिहाज से बेहतरीन हों ताकि ताजा शैक्षिक विमर्श और नवाचारी शिक्षण पद्धतियों से शिक्षकों की वाकफियत बनी रहे। इस शैक्षणिक सशक्तिकरण के साथ-साथ इस बात पर गौर करना जरूरी है कि समाज का शिक्षक वर्ग के प्रति रवैया क्या है? क्या समाज शिक्षक को एक पेशेवर (प्रोफेशनल) के रूप में देखता है? शिक्षक वर्ग के प्रति समाज का सकारात्मक रवैया उनको संबल, कुछ नया कर गुजरने का प्रोत्साहन और आत्मविश्वास देगा। शोध करना केवल विश्वविद्यालय कर्मियों कि जागीर नहीं है। स्कूली शिक्षक भी प्रैक्टिशनर के नाते शोधकर्ता हो सकता है। पर क्या राज्य उनके लिए ऐसी सुविधाओं का प्रावधान करता है? यह बात एक विचार के तौर पर भी समाज और राज्य के मानसपटल से गायब है।

कार्टूनों और पाठ्यपुस्तकों पर संसद में उठे बवाल ने प्रिंट मीडिया, ब्लॉग और विद्वानों के बीच एक लंबी बहस छेड़ दी है। हिंदी विरोधी आंदोलन से संबद्ध एक कार्टून पर नए सिरे से विरोध के स्वर उठ रहे हैं। पर जैसा कि हाल में हिंदी की एक राष्ट्रीय मासिक पत्रिका में छपे एक लेख में कहा गया है, यह पहली बार नहीं हुआ है कि राष्ट्रीय पाठ्यचर्या 2005 के बाद बनी पाठ्यपुस्तकें विवाद के घेरे में आई हैं। सन 2006 में इसी किस्म का बवाल मचा था जब भाजपा के वरिष्ठ नेताओं ने प्रेमचंद, पांडेय शर्मा बेचन 'उग्र', धूमिल और पाश जैसे साहित्यकारों की रचनाओं को पाठ्यपुस्तक से हटाने की मांग की थी क्योंकि उनके अनुसार वे रचनाएं क्रमशः दलित विरोधी, ब्राह्मण विरोधी, स्त्री विरोधी और राष्ट्र विरोधी थीं। भाषा की आंचलिक रंगतों को नकारते हुए उन्होंने एक कविता में 'छोकरी' शब्द को अशोभनीय बताया था। उस समय शायद ही किसी कोने से संसद में बैठे इन शुद्धतावादियों की दलीलों पर कोई विरोध प्रकट किया गया था। अकादमिक और पत्रकारिता जगत में शायद यह मुद्दा बहस के लायक नहीं माना गया था क्योंकि मामला हिंदी साहित्य जैसे हाशिए पर पड़े गौण विषय का था (या फिर हिंदी की जगह कोई अन्य भारतीय भाषा भी हो सकती थी)। पर यदि अंग्रेजी पाठ्यपुस्तकें हमले का शिकार होतीं, तो ऐसी उदासीनता विद्वानों, शिक्षित समाज और नागरिक समाज में नहीं दिखाई पड़ती। जैसे प्रतिक्रियावादी भावावेग 2006 में और हाल में देखने में आए थे, उन पर तार्किक बहस और सकारात्मक विरोध प्रकट करने के लिए यह बहुत जरूरी है कि हम 'मैं-मेरा दायरा' व 'तुम-तुम्हारा दायरा' की गुटबंदी से बाहर निकलें, विभिन्न विषयों को नवाजे गए गैर-बराबरी के दर्जे को तोड़ें और ऐसे मुद्दों पर समाज में सामूहिक बहस छेड़ें।

सरकार ने कुछ सप्ताह पहले आनन-फानन जो घोषणाएं की थीं, उन पर यदि वह अमल करती है तो इससे भविष्य में राष्ट्रीय पाठ्यचर्या 2005 के जैसे प्रगतिशील और नवाचारी शैक्षिक सुधारों को धक्का पहुंचेगा और 2001 से 2005 के बीच जो कुछ हुआ वह भारतीय शिक्षा के इतिहास में किसी क्रांति से कम नहीं था। अतः राष्ट्रीय पाठ्यचर्या 2005 के बाद हुए इन प्रयासों को सहेजने और संवर्धित किए जाने की जरूरत है। ♦